दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

वर्ष : १
अंक : ५

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

कार्तिक
२४७२

★

ज्ञानार्जन करो

कोई भी ज्ञानी अथवा अज्ञानी आत्मा एक परमाणु मात्र को हिलाने में समर्थ नहीं है तो फिर देहादि की क्रिया आत्मा के हाथ में कहाँ से हो सकती है ?

ज्ञानी और अज्ञानी के बीच आकाश-पाताल के समान घोर अन्तर है। और वह अन्तर यह है कि अज्ञानी, परद्रव्य का तथा राग-द्वेष का कर्ता होता है। जब कि ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभव करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता।

इस कर्तृत्व के त्याग का महा पुरुषार्थ प्रत्येक प्राणी को करना है। और यह कर्तृत्वबुद्धि बिना ज्ञान के नहीं छूटेगी, इसलिये तुम ज्ञानार्जन करो।

- पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़ काठियावाड ★

सम्यग्दर्शन के निवास के
छह पद

१- 'आत्मा' है।

२- 'आत्मा' वस्तुरूप में नित्य है, परन्तु त्रिकाल में स्थिर रह कर अवस्था दृष्टि से समय-समय पर स्वयं अपनी अवस्थाओं को बदलती है।

३- आत्मा निज कर्म शुद्धाशुद्ध भाव का कर्ता है।

४- आत्मा अपने शुद्धाशुद्ध भाव का भोक्ता है।

५- आत्मा की सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था (मोक्ष) स्वयं प्रगट कर सकता है।

६- अज्ञान (मिथ्यात्व) और राग-द्वेष की निवृत्ति मोक्ष का उपाय है।

इन छह महाप्रवचनों का निरन्तर संशोधन करना।

- श्रीमद् राजचन्द्र

★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★

: सामायिक :

सामायिक के चार भेद हैं— (१) नाम सामायिक, (२) स्थापना सामायिक, (३) द्रव्य सामायिक, (४) भाव सामायिक।

(१) नाम सामायिक—जाति, गुण, क्रिया की अपेक्षा न करके किसी भी पदार्थ की 'सामायिक' सो नाम सामायिक है।

(२) स्थापना सामायिक—समस्त पापों का त्याग करनेवाले परिणाम में परिणत आत्मा के शरीर का सामायिक करने के समय में जो आकार होता है; उसी जैसा आकार जिसमें हो ऐसे चित्र, फोटो, इत्यादि में ऐसी स्थापना कर लेना कि 'यह सामायिक है' सो स्थापना सामायिक है।

(३) द्रव्य सामायिक—जिसे सामायिक रूप आत्मा के परिणाम का अनुभव हो चुका है, किन्तु जो वर्तमान में सामायिकरूप ज्ञान में परिणत नहीं हुआ है, उसे द्रव्य सामायिक कहा गया है।

(४) भाव सामायिक—सामायिक रूप आत्मा का ज्ञान जो वर्तमान में उपयोगरूप में है, वह भाव सामायिक है।

मुद्रक—प्रकाशक :- जमनादास माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय,
दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड़, ता. २२-११-१९४५

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १ अंक : ५

कार्तिक २४७२

: आत्मधर्म :

स्तवन

मैं नेमिजी का बंदा, मैं साहिबजी का बंदा॥ मैं नेमिजी. टेक॥

नैन चकोर दरस को तरसैं, स्वामी पूनम-चंदा॥१॥

छहों दरब में सार बतायो, आतम आनंद कंदा।
ताको अनुभव नितप्रति करते, नासे सब दुखदंदा॥२॥

देत धरम उपदेश भविक प्रति, इच्छा नाहिं करंदा।
रागद्वेष मद मोह नहीं, नहिं क्रोधलोभ छल छंदा॥३॥

जाकौ जस कहि सके न क्यों ही, इन्द्र फनिन्द्र नरिन्द्रा।
सुमरन भजनसार है 'द्यानत', अवर बात सब फंदा॥४॥

- जिनेन्द्र स्तवन मंजरी, स्तवन नं.३७१

मैं भगवान नेमिनाथ का दास हूँ, भगवान का दास हूँ। हे भगवन्! आप पूर्णिमा के चन्द्रमा हैं और मेरी आँखें चकोर बनकर आपके दर्शन को तरस रही हैं॥१॥

हे भगवन्! आपने बताया है कि छहों द्रव्यों में आनन्दकन्द आत्मा ही सार है। उसका नित्य अनुभव करने से सब दु:ख-दँद नाश हो जाते हैं॥२॥

भगवन्! आप इच्छा नहीं करते, फिर भी भव्य जीवों को धर्मोपदेश देते हैं। आप के राग, द्वेष, मद, मोह, क्रोध, कपट और छल छन्द नहीं है॥३॥

पंडित द्यानतरायजी कहते हैं कि जिनका यश वर्णन इन्द्र, फणीन्द्र और नरेन्द्र कोई नहीं कर सकते, उन नेमिनाथ भगवान की वीतरागता का स्मरण करना ही भजन का सार है, शेष सब व्यथ का फंदा है॥४॥

O soul! What foolishness has entered thy head that thou engagest thyself in Vyavahara (good and bad actions etc.) which is the cause of Samsara Paribrahmana (transmigratory condition). Know thy Shuddha Atman, which is devoied of all Pra-Pancha (worldly turmoils) and is described by the word Brahma, and make thy mind steady.

Hw who does not regard Punya (virtue or good deeds) and Papa (evil or bed deeds) as equal, such a one being under the influence of Moha (ignorance or illusion) will wander in the Samsara for a long time and remain unhappy. *Parmatma-Prakash*

पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आत्मसिद्धि पर प्रवचन में से

धर्मी जीव को ज्ञानी का उपदेश है कि

आत्मा को पहचानो

जहाँ शास्त्र में मोक्षमार्ग का कथन होता है, वहाँ यही लिखा जाता है कि पुण्य परिणाम सर्वथा हेय (त्यागने योग्य) है। पंच महाव्रतादि सभी शुभपरिणाम आस्रव है, कर्मभाव हैं, इसलिये त्याज्य हैं। किन्तु अभी जिस जीव ने परमार्थ तत्त्व को नहीं पाया, जो राग-द्वेष-अज्ञान भाव में लगा हुआ है, और मंद कषाय का पुरुषार्थ छोड़कर स्वच्छन्द अनाचार में प्रवृत्ति कर रहा है, उसके लिये मुमुक्षुपन की भी संभावना नहीं है। धर्मात्मा-साधक के अभी चारित्र में अधूरापन है, अभिप्राय में रागादि अस्थिरता सर्वथा त्याज्य है, किन्तु बीच में शुभ परिणाम और शुभ निमित्त तो आते ही हैं। लेकिन जो इस शुभ का निरोध करके अशुभ में प्रवृत्ति करता है, वह कुछ समझा ही नहीं है।

जो मुमुक्षु-मोक्षमार्गी है, वह साधक स्वभावी परमार्थभूत व्यवहार अर्थात् निश्चय स्वरूप को लक्ष करके राग को दूर करने का पुरुषार्थ करता ही है, और जहाँ जो घटित होता है, उसे ही ठीक मानता है। शास्त्र कथन में कई जगह विरोध सा प्रतीत होता है तो उसकी परमार्थ आशय नय की अपेक्षा से समझ लेता है, कहीं भी परेशानी में नहीं पड़ता।

कोई एकान्त पक्ष को लेकर यह कहे कि शास्त्रों में शुभ परिणाम से बन्ध होना बताया है, इसलिए मैं शुभ परिणाम (मंद कषाय) नहीं करूँगा, देव, गुरु, धर्म की भक्ति व्यवहार के विकल्प से पुण्यबंध करती है, इसलिए यह भी नहीं करूँगा; मैं तो मात्र आत्मध्यान ही करूँगा, यदि मैं विकल्प करूँ, शास्त्र पढ़ूँ अथवा प्रभावनादि कार्यों में भाग लूँ तो मेरे ज्ञानध्यान में बाधा पड़ेगी। उसके लिये आचार्य कहते हैं कि तुझमें सच्ची दृष्टि का लक्ष नहीं है। बिना आंतरिक स्थिरता के योग की स्थिति से तू क्या कर लेगा?

श्री जयसेनाचार्य ने इस संबंध में कहा है—कि तू गृहस्थ है या मुनि, किन्तु अभी तुझे अपने शरीर के प्रति अनुकूलता कर लेने की सावद्य वृत्ति उत्पन्न होती हो, तुझे रोग से या भूख से दु:ख अथवा आकुलता होती हो, या कि कोई मेरी सेवा करे, इत्यादि भाव होता है; इस प्रकार तुझे अपने शरीर के प्रति प्रेम या मोह होता है, और उधर मुनि की सेवा, वैयावृत्ति या भक्ति में तुझे कोई उत्साह नहीं है तो तू पापी है, धर्मात्मा नहीं है। हाँ, यदि तू कहीं वीतरागी होकर स्थिर हो गया हो, तब तो व्यवहार का कोई प्रश्न ही नहीं रहता, और यदि राग में अटक

रहा है, फिर भी विवेकहीन होकर यों मानने लगता है कि देव-गुरु-धर्म तथा मुनि वगैरह पर -पदार्थ हैं, और पुण्य से बंध होता है, इसलिये वह त्याज्य है, और यों मानकर शुभ निमित्त को दूर करके अशुभ में प्रवृत्ति करता है; इसलिये तू मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि तुझे वीतराग धर्म का बहुमान नहीं है।

जब तक ''अपनी अनुकूलता बनी रहे'' इस प्रकार विषय-कषाय के संसारभाव मौजूद हैं, तब तक ''जिनशासन स्थिर रहे, देव-गुरु-धर्म, सत् स्वरूप जयवंत रहे'' ऐसा अपूर्व भाव करके इष्ट निमित्त की भक्ति और भक्ति का उत्साह रहना चाहिये।

स्त्री, घर, कुटुम्ब आदि व्यापार में रागबुद्धि है, और वह संसार का राग, पापबुद्धि है; उसमें से निवृत्ति पाकर सच्चे देव-गुरु-धर्म की भक्ति, सुपात्र दान, वीतराग शासन की प्रभावना, जिनपूजा, दान, वैयावृत्ति तथा योग्य साधर्मी आत्मा की सेवा करने का भाव जिसके नहीं है, वह अधर्मी है। जिसके अभी देह, स्त्री, पुत्रादि में तो प्रेम हैं और परमार्थ निमित्त में प्रेम-आदर नहीं है, उसे धर्म की रुचि नहीं है; वह पापरुचि को पुष्ट करता है। तथा उसे पवित्र भाव पोषक सच्चे देव, गुरु, धर्म के प्रति आदर नहीं है। वह जीव, पाप में रत होकर धर्मस्नेह और प्रशस्त राग का निरोध करता है। वह सद्धर्म की उन्नति नहीं चाहता, इसलिये वह पापी जीव है।

जो मुमुक्षु है, उसे यथायोग्य विवेक होता है। वह परमार्थ तथा परमार्थभूत व्यवहार को एवं निमित्तभूतव्यवहार को ज्यों का त्यों जानता है। हित-अहित, हेय-उपादेय को यथार्थ समझता है, तथा भक्ति, विनय, सत्समागम और वैराग्य आदि जो जहाँ जिस प्रकार घटित होते हैं, उसी प्रकार विवेक करता है। वीतरागी पवित्र तत्त्व की दृष्टि होते हुये भी अप्रशस्त राग की (संसार की) दिशा, या रागरुचि नहीं बदले, यह कैसे हो सकता है।

जब तक निर्ग्रंथ मुनित्व और ज्ञान की स्थिरदशा नहीं है, वहाँ तक आत्मधर्म की उन्नति में इष्ट निमित्त की भक्ति, प्रभावना आदि शुभ प्रसंग का प्रेम आये बिना नहीं रहता। यदि परमार्थ को पाया हो तो आत्मा की पवित्र वीतरागदशा में स्थिर हो जा। किन्तु अप्रशस्त राग-संसार प्रेम के रहते हुए भी सत्य परमार्थ और अनुकूल निमित्त के प्रति अनादर (अनुत्साह) रखे यह तो घोरतम अज्ञान है।

कोई एकांत दृष्टि को पकड़कर देहादि क्रियाकाण्ड में लीन है तो कोई सच्चे निमित्तों का निषेध या निन्दा करने में; और कोई मन की धारणा में - कर्मभाव में रत है। लोगों को भुलाने के लिए यत्र-तत्र अनेक स्थान हैं। अनादिकाल से विपरीत दृष्टि और ज्ञान की (सत् स्वरूप की) विराधना तथा सत्य परीक्षा का अभाव सर्वत्र पाया जाता है, इसलिये धर्मभीरु लोगों को विपरीत समझानेवालों का योग यत्र-तत्र सर्वत्र मिल जाता है।

अपनी अनुकूलता चाहिये, अपनी निंदा सह्य नहीं, किन्तु सुपात्र मुनि अथवा साधर्मी भाई की सेवा में भाग क्यों नहीं लेता? तथा वीतराग धर्म की प्रभावना की निन्दा होती देखकर कैसे सहन करता है? इसलिए जहाँ धर्म रुचि हो, वहाँ संसार तथा देहादि के अशुभराग छोड़ने के लिए शुभ परिणाम करने से इंकार कहाँ किया है? क्योंकि जहाँ सत के प्रति रुचि होगी, वहाँ प्रशस्त राग हुए बिना रहेगा नहीं, यद्यपि उस राग का राग नहीं है। हाँ परमार्थ मोक्षमार्ग (आत्मधर्म) में शुभभाव (पुण्य-पाप परिणाम) का निषेध किया गया है। जब आत्मज्ञानसहित पुरुषार्थ के द्वारा अन्तरंग अभिप्राय में से शुभाशुभ दोनों विकारी भावों का निषेधरूप अबन्धभाव स्थिर हो, तब धर्मात्मा के अपूर्ण चारित्र है; वहाँ तक निश्चयस्वरूप को लक्ष करके धर्मप्रभावना के भाव होते हैं। किन्तु वह शुभ परिणाम से या देह की क्रिया से धर्म नहीं मानता। फिर भी वह यह जानता है कि अकषाय को लक्ष करके तीव्र कषाय को दूर करने का उपाय अकषाय में पहुँचने के लिए निमित्त है।

यदि कोई निश्चयस्वरूप का अनुभव किये बिना मात्र देव, गुरु, धर्म की भक्ति, देहादि क्रिया इत्यादि व्यवहारधर्म को ही उपादेय माने, योग की क्रिया से साधन माने, और पुण्य परिणाम में व्यस्त हो जाय तो वह सच्चा पुरुषार्थ नहीं है। निश्चय के लक्ष बिना मन्द कषाय वास्तविक मन्दकषाय (प्रशस्तराग) नहीं है, फिर भी जिसे स्वानुभवदशा प्राप्त नहीं है, उसे यह शुभभावदशा छोड़कर अशुभ में जाने के लिए किसी भी शास्त्र में नहीं कहा है।

देव-गुरु और धर्म तीनों वीतरागस्वरूप हैं। उसका परमार्थ ग्रहण करके स्वतत्त्व सम्बन्धी रुचि बढ़ाये। सत्य समझने का पुरुषार्थ होने पर साथ ही शुभ परिणाम का विकल्प और शुभ निमित्त भी आते ही है। जो उसका तो निषेध करे और संसार के अशुभ रागादि में प्रवृति करे, उसे पात्रता (उच्च भूमिका) चाहिए ही नहीं है। वह अशुभ आचार का आदर करके जाएगा कहाँ? उसे पवित्र धर्म की रुचि ही नहीं है। उसे तो देहादि संसार की रुचि है। यदि २५००० का मकान बनवाना हो तो वह बराबर व्यवस्था रखने का विचार करता है, समय का ध्यान रखता है, स्वयं भी देखभाल करता है। वह निरंतर चिंता रखता है कि मजदूर बगैरह क्या कर रहे हैं? कंकरी सीमेंट आदि अच्छी है या नहीं? चूना यदि चिकना नहीं होगा तो मकान जल्दी गिर जायेगा। इसकी नींव मजबूत और काफी गहरी होनी चाहिए—इत्यादि; और इस ओर बराबर सावधान रहता है। किंतु क्या कभी यह भी सोचता है कि मेरी सत्स्वरूप की श्रद्धा की नीव का क्या हाल है? पवित्र देव-गुरु, धर्म की भक्ति-प्रभावना में भक्तिपूर्वक आदर नहीं किया तो मर कर कहाँ ठिकाना मिलेगा? सच्चे देव, गुरु, धर्म की भक्ति-प्रभावना के निमित्त प्राप्त करने में अरुचि

रखनेवाले आरंभ- समारंभ का बहाना धरते हैं और अपने घर विवाहादि प्रसंगों में रुचि रखते हैं। इसका अर्थ तो यही हुआ कि उन्हें कुराग में रुचि है।

इष्ट निमित्तों की शोभा (देव, गुरु, धर्म की प्रभावना) भक्ति प्रशस्त राग है। परन्तु अभी मैं कौन हूँ, कितना सा हूँ इसका ज्ञान नहीं है। वह शुभ का निषेध करके कहाँ जाएगा? जिसे स्वरूप की दृष्टि प्राप्त है, उसकी राग की दिशा बदले बिना नहीं रहती। जहाँ तक साधकदशा है, वहाँ तक राग हो ही जाता है। पवित्र जिनशासन की शोभा, जिनप्रतिमा की भक्ति और देव, गुरु, धर्म का बहुमान हो—ऐसी भावना होनी चाहिए। यदि कोई मनोवृत्ति को तोड़कर वीतरागदशा में स्थिर हो जाय तो उससे विवेक की माँग कोई नहीं करता।

सच्ची सामायिक

एक सामायिक और एक करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का दैनिक दान, इनमें से एक सामायिक का फल अनन्तगुना है। परन्तु वह सामायिक कौन सी? जिसमें आत्मा शुद्ध, अविकारी, वीतरागी, पुण्य-पाप, विकल्प रहित अरागी है—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान और उस अभेद स्वरूप में स्थिरता होती है, वही सच्ची सामायिक है। उस सामायिक के फल के साथ अनन्त मन सोने के दान का फल भी तुलना नहीं कर सकता। किन्तु जिन्हें यथार्थ अभ्यास नहीं है, और जो अपना आग्रह छोड़ना नहीं चाहते—ऐसे जीवों के सच्ची सामायिक कहाँ से होगी?

जिसे सत्यदृष्टि प्राप्त है, वह नित्य शास्त्र-पाठन, मनन, श्रवण, ज्ञान, ध्यान, सत्पुरुष की भक्ति एवं जिनाज्ञा में चलता है। उसे जहाँ-जहाँ जो-जो परमार्थ संभव है, उसकी समझ और समझ का विवेक होता ही है।

अन्तरंग अभिप्राय में तो यह समझना चाहिए कि मैं पूर्ण शुद्ध वीतराग हूँ, मुझमें राग का अंश भी नहीं है। इस परमार्थदृष्टि में स्थिर होते समय तो शुभ विकल्प का भी निषेध होता है और स्थिरता का पुरुषार्थ (राग दूर करने का पुरुषार्थ) करते हुए मन्द कषाय (शुभभाव) साथ में लग जाता है। अशुभ में स्थित, शुभ का इंकार करनेवाला आत्मार्थी नहीं है।

गृहस्थ सम्बन्धी-घर-बार, पुत्रादि का विवाह और ऐसे ही अन्य प्रसंगों में बहुत-बहुत सावधानी रखने में तत्पर रहता है, दुनियादारी में अच्छा दिखने की इच्छा रखता है, किन्तु पवित्र वीतराग धर्म की शोभा, जिनशासन की उन्नति के लिए जो तन, मन, धन लगाने में संकोच करता है, उसको सत् के प्रति अनादर है। यदि कभी कोई यह कहे कि आत्मा शुद्ध है, अकषाय है तो ज्ञानी उससे कहते हैं कि वह तेरे लिए नहीं है, क्योंकि यदि पवित्र ज्ञायक रहे तो ठीक है किन्तु

जहाँ-जहाँ धर्म प्रभावक भक्ति के निमित्तों की आवश्यकता दिखाई दे, वहाँ उन भले निमित्तों के बहाने से लोभ कषाय को कम करना चाहिए। ऐसा न करके यदि कोई उल्टा लोभ को बढ़ाये और कहे कि क्या किया जाय, सांसारिक व्यवहार में रहनेवालों को गृहस्थी के व्यवहार में तो धन का खर्च करना ही पड़ता है। इस प्रकार धर्म प्रभावना के प्रति दुर्लक्ष करनेवाले के आत्मा की रुचि नहीं है।

जिसने आत्मज्ञानदशा को प्राप्त कर लिया, वह भी जब तक निर्विकल्प स्थिर उपयोग में स्थिर नहीं हो जाता, तब तक शास्त्राभ्यास, स्वाध्याय देव, गुरु, धर्म की भक्ति का परमार्थ के लक्ष से आलंबन लेता है। वह धर्म प्रभावना के निमित्त से यथाशक्ति सब कुछ करता है। क्योंकि उसे अकषाय स्वभाव में जाना है (पूर्ण पवित्र होना है) इसलिये वह पुरुषार्थ द्वारा कषाय कम करने के निमित्तों को प्राप्त करेगा। इष्ट-निमित्त धर्म साधन में धन खर्च करके अथवा वीतराग (देव, गुरु, धर्म) के प्रति अपना प्रेम बढ़ाकर भी धर्म की प्रभावना करेगा। आत्मार्थी अपने पुरुषार्थ को छुपायेगा नहीं।

वर्तमान में बहुत से मनुष्य निश्चयाभास में पड़े रहते हैं, अशुभ में लगे रहते हैं, वे भले ही धर्म की बातें करते हों परन्तु उनके संसार ही पुष्ट होता है, मोक्ष स्वभाव की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि वे यह मानते हैं कि हम पुण्य को संसार का फल मानते हैं। पुण्य से धर्म नहीं मिलता। परन्तु भाई मेरे! तनिक ठहरो, और सोचो कि मैं कहाँ खड़ा हूँ? किस तरफ मेरा रुख है? किधर मेरी रुचि है। इसका विवेक (जानकारी या भेदज्ञान) होना चाहिए।

धर्मी जीव को ज्ञानी का उपदेश है कि आत्मा को पहचानो। परमार्थ के लक्ष से विषय कषायों को घटाओ। स्वभाव की महत्ता को समझो और धर्मरुचि बढ़ाने के लिए देव, गुरु, धर्म की भक्ति-प्रभावना करो।

तीव्र कषाय कम करके मन्द कषाय के लिए पुरुषार्थ करने को शुभोपदेश भी देते हैं, किन्तु आत्मार्थी को जहाँ जो निमित्त दिखाई देता है। उससे उसी का परमार्थ समझ लेता है। द्रव्यस्वभाव को शुद्ध, अबन्ध, निरपेक्ष मानता है। अनेकांत न्यायदृष्टि को यथास्थान समझता है। पुरुषार्थ को नहीं हटाता। पुरुषार्थ हेतु व्यवहार का उपदेश भी परमार्थ के लक्ष से प्रेम से सुनता है। नित्य स्वाध्याय, बारह भावना, पठन-पाठन, मनन और सत् स्वरूप की भावना द्वारा राग-द्वेष प्रमाद को दूर करने का उपदेश ग्रहण करता है। मैं अकषायी हूँ, असंयोगी हूँ, परमार्थ से भिन्न अखण्ड ज्ञानमात्र हूँ; इसमें स्थिर रहने के लिए वर्तमान अवस्था में रागादि कम करने का पुरुषार्थ सम्पूर्ण वीतराग हो जाने तक बना रहता है।

चार ज्ञान के स्वामी गणधर तथा ज्ञानी धर्मात्मा भी सत् पुरुष का उपदेश सुनते हैं। उपदेश में नैमित्तकी भाषा होती है कि राग-द्वेष प्रमाद का नाश करो, किंचित्मात्र भी प्रमाद न करो। वह भली भाँति जानता है कि परमार्थत: मेरे स्वभाव में राग-द्वेष प्रमाद नहीं है, किन्तु अभी वर्तमान अधूरी अवस्था में पर निमित्त से मलिनता आ जाती है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को धर्मात्मा जहाँ जो जैसा घटित होता है, उस प्रकार समझ लेता है। परमार्थ को लक्ष करके एक को मुख्य और एक को गौण, इस प्रकार यथास्थान विवेक कौन करे ? यह समझ या विवेक तो स्वयं अपने ऊपर अवलम्बित होता है।

ब्राह्मण लग्न विधि करा देता है, किन्तु वह गृहस्थी का कारभार तो नहीं चला देता ? उसी प्रकार श्री गुरु सत्य परमार्थ की दशा बताते हैं किन्तु वे किसी जीव-अजीव को परिणमन तो नहीं करा सकते। क्योंकि शास्त्र में मार्ग कहा है, मर्म नहीं कहा। गुरुगम की महिमा को अपने ज्ञान में उतारना चाहिए। परभाव का त्याग, संसार, परिग्रह देहादि और विषयों से वैराग्य; यह त्याग, वैराग्य का पुरुषार्थ परमार्थ के लक्ष से होना चाहिए। अन्तरङ्ग ज्ञान की स्थिरता का पुरुषार्थ वीतराग दृष्टि की दृढ़ता के लिए आवश्यक है। उसमें पात्रता और सत् समागम का बल चाहिए। ★

★ ★ ★ ★

जैनधर्म

लेखक : रामजी माणेकचन्द दोशी

इस विषय को निम्न लिखित ५ विभागों में विभक्त करने से स्पष्ट हो जायेगा।

(१) 'जैनधर्म' पद का अर्थ, (२) जैनतत्त्व संक्षेप में, (३) जैनशास्त्रों की कथन पद्धति, (४) जैनदर्शन का अनादि अनन्तपन, (५) सौराष्ट्र का जैनधर्म के प्रति अपना भाग।

(१) जैनधर्म पद का अर्थ

'जैनधर्म' दो शब्दों का बना हुआ एक पद है। 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् 'वस्तु स्वभाव: धर्म'। जीव स्वतन्त्र स्वयं सिद्ध ज्ञानमय वस्तु है, इसलिये यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ— 'जीव का स्वभाव, सो धर्म' है। इस धर्म के पूर्व 'जैन' विशेषण लगाया गया है। 'जैन का अर्थ है 'जीतनेवाला'। इससे सिद्ध होता है कि अपना स्वभाव (धर्म) प्रगट करने में कुछ जीतना होता है। यदि कुछ जीतना न हो तो 'जैन' शब्द ही नहीं बनता। जो जीतना है, वह है अनादिकाल से स्वयं पुष्ट किया गया स्वरूप का भ्रम या विपरीत श्रद्धा; और उस भ्रम के कारण होनेवाली पर

वस्तु के प्रति इष्ट-अनिष्ट की कल्पना जीव को जीतना है। जिन अपने दोषों को जीतना है, उन्हें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहा जाता है। उन दोषों को जीतनेवाले आत्मा का जो स्वभाव है, वह है 'जैनधर्म'।

'जैनधर्म' कोई सम्प्रदाय अथवा दायरा नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा का (अपना) शुद्ध स्वरूप ही जैनधर्म है। (स्मरण रहे कि आत्मा और जीव एक ही अर्थ में जैनशास्त्रों में प्रयुक्त होते हैं)।

इस कथन का फलितार्थ यह हुआ कि आत्मा अपने दोषों को दूर करे और पूर्ण पवित्रता (वीतरागता) प्रगट करे, उसका नाम है आत्मा का स्वभाव यानि जैनधर्म। इसलिए जो आत्मा वीतरागता प्राप्त करते हैं, वे ही सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि —

''जीव एक अखण्ड द्रव्य है, इसलिए उसकी ज्ञान सामर्थ्य सम्पूर्ण है। जो सम्पूर्ण वीतराग होता है, वही सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है।''

(२) जैनतत्त्व संक्षेप में

(१) आकाश अनन्त है, (२) उसमें जड़-चेतनात्मक विश्व है, (३) विश्व मर्यादा दो अमूर्त द्रव्यों से है, जिन्हें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहते हैं। (४) जीव और परमाणु पुद्गल यह दोनों द्रव्य एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जा सकते हैं। (५) सभी द्रव्य, द्रव्यरूप में शाश्वत हैं, (६) जीव अनन्त हैं, (७) पुद्गल परमाणु अनन्तानन्त हैं, (८) धर्मास्तिकाय एक है, (९) अधर्मास्तिकाय एक है, (१०) काल द्रव्य असंख्यात (कालाणु) हैं, (११) प्रत्येक जीव विश्व प्रमाण क्षेत्रावगाह कर सकता है।

ऊपर संक्षेप में जो तत्त्व कथन किया है, उसमें इस जगत में छह द्रव्य (द्रव्य=अनन्त गुणों का त्रिकाली अखण्ड पिण्ड) हैं, जो कि निम्न प्रकार हैं:—

१- **जीव अनन्त :** उसका लक्षण ज्ञान है। उसके दो प्रकार हैं, संसारी और सिद्ध (जो ज्ञानस्वरूपदशा को प्राप्त हो चुके हैं, और जो सर्व दोषों से मुक्त हैं।)

२- **पुद्गल अनन्तानन्त :** इस के दो विभाग हैं, परमाणु और स्कंध। दोनों अनन्तानन्त हैं। उसमें विशेष गुण स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हैं। उसे मूर्तिक भी कहा जाता है।

३- **धर्मास्तिकाय :** एक ही द्रव्य है, अमूर्तिक है, जीव और पुद्गल गति करते हैं, उसमें उदासीन निमित्त है।

४- **अधर्मास्तिकाय :** एक ही द्रव्य है, अमूर्तिक है, जीव और पुद्गल गति करते हुए रुक जाते हैं तो उसमें उदासीन निमित्त है।

५- **काल :** लोक प्रमाण असंख्यात द्रव्य है। वह सर्व द्रव्यों के वर्तना में निमित्त है।

६- **आकाश :** एक द्रव्य है। इसके दो भेद हैं, एक लोकाकाश—जिसमें छहों द्रव्य रहते हैं, दूसरा अलोकाकाश—जिसमें केवल एक आकाश ही है। उसमें लोकाकाश सबके क्षेत्रावगाहरूप में विद्यमान है।

इनमें नं० २ से ६ तक सब अचेतन द्रव्य हैं, इसलिए उनके सुख-दु:ख नहीं होता। जीव द्रव्य का लक्षण चेतना है, उसकी संख्या अनन्त हैं। जीव का एक प्रकार 'सिद्ध' है। उनने सम्पूर्ण पवित्रता प्राप्त कर ली है, इसलिए वे सम्पूर्ण सुखी है। और जीव का दूसरा प्रकार संसारी है, उसके भी दो भेद हैं (१) केवली और (२) छद्मस्थ-(अपूर्ण अज्ञानवाले); इनमें से जो केवली है वे सम्पूर्ण सुखी हैं, क्योंकि उनने अपने स्वरूप की भ्रमणा दूर करके राग-द्वेष का सम्पूर्ण नाश किया है, और उसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण ज्ञान और सुख प्रगट किया है। बाकी रहे छद्मस्थ, सो उनके सम्बन्ध में यहाँ विशेष जानना चाहिये। क्योंकि सभी जीव सुख चाहते हैं और चाहते हैं कि वह सुख शाश्वत बना रहे, किन्तु उन्हें शाश्वत् सुख मिल नहीं पाता। इसलिए यहाँ पर यह बताया जाता है कि दु:ख का कारण क्या है और शाश्वत् सुख प्राप्त करने का क्या उपाय है?

अनादिकाल से यह जीव, शरीर को अपना मानता है, और इसीलिए यह दुखी होता है। यदि उसका आत्मस्वरूप सम्बन्धी भ्रम दूर हो तो दु:ख भी दूर हो और शाश्वत् सुख प्रगट हो। सुख जीव का अपना निजगुण है, इसलिए सुख जीव के भीतर ही विद्यमान है। किन्तु जीव आत्मस्वरूप को नहीं समझता, इसलिए जब तक भ्रम दूर नहीं हो जाता, तब तक वह दुखी ही रहता है, और परानुकूलता को सुख मानता है। इसलिए जीव को आत्मस्वरूप समझना चाहिए और उसके समझने में यह भी जानना चाहिए कि अपने अतिरिक्त पर (दूसरी) वस्तुयें (द्रव्य) क्या हैं?

आत्मस्वरूप को समझने के लिये पहले यह भी जान लेना आवश्यक है कि आत्मभ्रमरूप अवस्था का क्या कारण है, और वह विकारी दशा दूर होकर अविकारी दशा क्यों कर प्रगट हो, आत्मा पर का कुछ कर भी सकता है या नहीं, और पर-आत्मा का कुछ कर सकता है या नहीं?

यह तमाम बातें जैन शास्त्रों में अनेक दृष्टि से विस्तारपूर्वक समझाई गई हैं। उन सबका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। इसलिए यहाँ पर उसके कुछ मूलभूत सिद्धान्त ही बताये जा रहे हैं।

(१) "सद् द्रव्यलक्षणम्" [अध्याय ५, सूत्र २९, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ - द्रव्य का लक्षण सत् है।

(२) ''उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्'' [अध्याय ५, सूत्र ३०, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ - नवीन अवस्था का प्रगट होना (उत्पाद), पुरानी अवस्था का नाश होना (व्यय), और मूलवस्तु का ज्यों का त्यों बना रहना (ध्रौव्य), यह सत् का लक्षण है।

प्रत्येक वस्तु का मूलरूप स्थिर रहकर उसकी पर्याय (अवस्था) बदलती रहती है, किसी भी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता, केवल उसका रूपान्तर होता है।

No substance is destroyed, every substance changes its form.

(३) ''गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'' [अध्याय ५, सूत्र ३८, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ - द्रव्य, गुण और पर्यायवान् होता है। अर्थात् जगत् में कोई भी वस्तु अपने गुण और उसकी अवस्थाओं को छोड़कर नहीं होती।

Every substance has it's qualities and condition.

(४) ''द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणः'' [अध्याय ५, सूत्र ४१, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ - जो द्रव्य के आश्रित हो और स्वयं गुणरहित हो, वह गुण है। प्रकारान्त से इसे यों भी कह सकते हैं कि जो द्रव्य के समस्त भागों में और समस्त अवस्थाओं में रहता है, तथा स्वयं जिसके कोई अन्य गुण नहीं हैं, वह 'गुण' कहा जाता है।

(५) ''तद्भावः परिणामः'' [अध्याय ५, सूत्र ४२, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ - द्रव्यों के और उनके गुणों के स्वभाव-स्वतत्त्व को (तद्भाव को) परिणाम कहते हैं। यह परिणाम, द्रव्य से या गुण से सर्वथा भिन्न कोई वस्तु नहीं है, किन्तु उसी का स्वभाव है।

(६) ''उपयोगो लक्षण'' [अध्याय २, सूत्र ८, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ - जीव का लक्षण उपयोग (ज्ञानदर्शनरूप) है।

(७) ''सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' [अध्याय १, सूत्र १, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ - आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीति, यथार्थज्ञान और ज्ञान की स्थिरतारूप यथार्थ चारित्र, सो मोक्षमार्ग है।

(८) सम्यग्दर्शन की व्याख्या निम्न प्रकार है:—

मूल- भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्यंपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्त॥१३॥

संस्कृत- भूतार्थेना भिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आश्रवसंवर निर्जरबंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम्॥१३॥

अर्थ - भूतार्थनय से जाने हुये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष, यह नौ पदार्थ सम्यक्त हैं।

विशेषार्थ - अजीव पाँच प्रकार के हैं। इनमें से एक पुद्गलद्रव्य, जीव की विकारी अवस्था में निमित्त होता है। पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध यह चारों जीव के विकारी भाव हैं। इनमें से भी पुण्य जीव का मन्द विकारी भाव है और पाप तीव्र विकारी भाव है। आस्रव जीव का प्रगट होता हुआ नया विकारीभाव है (इसमें पुण्य और पाप दोनों अन्तर्भूत हैं); जीव का विकार में फंस जाना बन्ध हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष, जीव की अविकारी अवस्था है। नवीन विकार का रुकना और आंशिक शुद्धता का प्रगट होना संवर है। पुराने विकारों का एक देश दूर हो जाना निर्जरा है। और सम्पूर्ण विकारों से सम्पूर्ण मुक्त हो जाना मोक्ष है।

इन नौ भावों का स्वरूप, आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञानियों से सुनकर और उसका नन करके उसके स्वरूप का स्वयं यथार्थ निर्णय करना चाहिये। उस निर्णय के बाद इन नौ तत्त्वों का विकल्प दूर करके अपने ध्रुव स्वरूप की ओर आत्मा के सन्मुख होने पर आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीति होती है। उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। *(क्रमशः)*

★ ★ ★ ★

मिथ्यात्व सहित अहिंसादि का फल

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग यदि मिथ्यात्वयुक्त हों तो वह उसी प्रकार व्यर्थ जाते हैं, जैसे कड़वी तुंवी में रखा हुआ दूध। कड़वी तुंबी में रखा हुआ दूध पित्तोपशम करने के लिये मिठास आदि गुणों से रहित हो जाता है, अर्थात् उस दूध में अफलता आ जाती है। उसी प्रकार यदि अहिंसादिक, मिथ्यात्वयुक्त हों तो आत्मा का स्वर्ग (देवगति) में जन्म हो जाता है; किन्तु लौकान्तिक देवत्व अथवा ऐसा ही कोई सातिशय फल प्राप्त नहीं होता। मिथ्यात्व-दूषित अहिंसादि से केवल इतनी ही हानि नहीं है कि फलातिशय नहीं मिलता, किन्तु वह आत्मा में रहकर महादोषों की सृष्टि भी करता है।

यद्यपि औषधि, लाभ कारक होती है, किन्तु यदि उसमें विष मिल गया हो तो वह दोषयुक्त हो जाती है-घातक बन जाती है; उसी प्रकार अहिंसादि के मिथ्यात्वयुक्त होने पर वह गुण के स्थान पर संसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करानेवाले दोषों को धारण कर लेती है। अथवा मिथ्यादृष्टि को यह अहिंसादि पापानुबन्धी स्वल्प इन्द्रियसुख की प्राप्ति करा देते हैं, किन्तु वह उसे बहुत आरम्भ और परिग्रह में आसक्त करके नरकों में ले जाते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध

हुआ कि मिथ्यात्व-दूषित अहिंसादि, दोषों को उत्पन्न करते हैं। जैसे विषमिश्रित औषधि से लाभ नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्यात्वसहित अहिंसादि से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

★ ★ ★ ★

समझ ही धर्म है और अज्ञान ही संसार

सभी जीव सुख चाहते हैं किन्तु सुख का सच्चा उपाय नहीं जानने के कारण पराश्रय में सुख मान लेते हैं। इसलिए उन्हें सुख की जगह दु:ख ही हो रहा है...! पराधीनता ही दु:ख है और स्वाधीनता ही सुख.....!

सुख-दु:ख का स्वरूप बताते हुए कहा है:—

जो पराधीन वह दु:ख जानो,
निजवश उतना ही सुख मानो;
इस दृष्टि से आतमगुण प्रगटे,
तब सुख है क्या इसको जानो;
भवि वीरवचन अवधारो....!!

अर्थात् आत्मा को अपने सुख के लिये जो पर की इच्छा होती है, वही दु:ख है और जो आत्मा के आधीन है, वही सुख है। पाप-पुण्य अथवा कोई पर के आधीन मेरा सुख नहीं है, इस दृष्टि से आत्मा का गुण (सुख) प्रगट होता है। तब फिर विचार करो! वीर भगवान के वचन सुनो और समझो! तू कौन है, यह जान ले तो तुझे तेरी समझ में बन्धन मालूम ही नहीं होगा और यदि बिना समझ के चाहे जो करेगा तो बन्धन है ही। परद्रव्य से अपने लिये किसी भी प्रकार लाभ-हानि मानना ही बन्धन है।

वेषधारी धर्मोपदेशक

जिसके राग-द्वेष अज्ञानादि सब दूर हो गये हैं—ऐसे वीतराग जिनेश्वर, सर्वज्ञ, तीर्थंकर आदि द्वारा प्ररूपित न्यायधर्म-लोकोत्तरमार्ग को जाने बिना बहुत से लोग धर्मोपदेशक का बाना पहिनकर समस्त धर्मों का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। मानो वे कुजात और सुजात अर्थात् लौकिकमार्ग और अलौकिक सन्मार्गरूप अपूर्व धर्म का समन्वय करते हैं। मानो वे अलपका वस्त्र के साथ टाट-फट्टी को जोड़कर कहते हैं कि दोनों वस्त्र (?) समान हैं। इसी प्रकार कुछ अल्पज्ञ लोग अपनी बुद्धि-कल्पना से सर्वज्ञ परमात्मा के सिद्धान्तों को अन्य लौकिक धर्मों के साथ समान बतलाते हैं। अरे! कहाँ जुगनू का प्रकाश और कहाँ सूर्य का तेजपुंज? दोनों के बीच समानता कैसी? दोनों का समन्वय करनेवाला मानो सूर्य को ढकने का प्रयत्न करता है! वह आत्मज्ञान से रहित है।

आत्मा स्वतः सिद्ध वस्तु है। बन्ध का कारण पर नहीं है। केवल तेरी मान्यता ही ऐसी है। प्रत्येक वस्तु का जो स्वभाव है, वह उस वस्तु से ही स्वतन्त्ररूप में है; किसी भी वस्तु का स्वभाव पराश्रित नहीं है। पुण्य के आधार पर धर्म नहीं है... धर्म अपने ही आधार पर है...।

आत्मा की स्वतन्त्रता को कोई लूट नहीं सकता–यदि शत्रु आये तो वह अनुकूल भाव को नहीं बदल सकता और यदि मित्र आये तो वह विपरीत भाव को टाल नहीं सकता। यदि वह समझे तो स्वयं प्रभु है। प्रभु, तेरी प्रभुता तुझमें ही है।.... तू स्वयं अच्छे–बुरे भाव करता है।

जो निरन्तर ज्ञानस्वभाव में परिणमन करता है, उसके पुण्य–पाप या किसी पर से अज्ञान नहीं होता। अर्थात् वह उससे अपने लिए कोई हानि–लाभ नहीं मानता... ज्ञानी सभी संयोगों में ज्ञानरूप ही परिणमन करते हैं–कभी अज्ञानरूप होते ही नहीं....।

ज्ञानी से कहते हैं कि हे ज्ञानी! तू सर्व संयोगों को जान ले। तेरे लिए कोई भी संयोग हानि नहीं कर सकते। इसलिए शंका मत कर कि "कहीं पर मुझे हानि तो नहीं करेगा!" स्वतन्त्रता की समझ के बिना यदि पंच महाव्रत धारण किये तो भी वह पापी (अधर्मी) है... और यदि भान है–समझ है तो वह राजपाट में रहने पर भी धर्मी है।

कोई परवस्तु बन्ध की कारण नहीं है। आत्मा को केवल उसके भाव का ही हानि–लाभ है। पर, बन्ध का कारण नहीं है। दृष्टि की भूल ही बन्ध का कारण है। भावार्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतः सिद्ध है, प्रत्येक का स्वभाव अपने ही आधीन है। एक द्रव्य दूसरे को परिणमित नहीं कर सकता।

यह सब किसलिए कहा जाता है? लोग पर से लाभ–हानि मानते हैं, वह मान्यता दूर हो, तथा यह समझे कि तेरे भाव में कोई भागीदार नहीं है... तेरे भाव का शत–प्रतिशत फल तुझे ही है।

ज्ञानी से कहते हैं कि – ऐसी शंका ही मत कर कि परसंयोग बढ़ा रहे हैं, इसलिए हमें नुकसान तो नहीं करेगा? क्योंकि परवस्तु नुकसान का कारण नहीं है, तेरा अज्ञानभाव ही नुकसान का कारण है। एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से लाभ या हानि मानना ही बन्धन है।

यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि – परवस्तु बन्धन का कारण नहीं है तो माल मलीदा खाने में क्या हानि है? उसका समाधान यह है – जहाँ तूने खाने से सुख माना, वहाँ पर से सुख माना, उसी में तेरी विपरीत मान्यता का पाप है.... पर को भोगने का भाव ही मिथ्यात्व है। (ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी पर को नहीं भोग सकता।)

प्रतिकूल संयोग बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु जहाँ तू अपने स्वभाव से चूका, वहीं बन्धन है। ज्ञानी अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों से कभी भी लाभ या हानि नहीं मानता, इसलिए

वह किसी में भी लिप्त नहीं होता। तेरा धर्म तुझमें ही तेरे आधीन है, उसे पर सहाय की आवश्यकता नहीं है, नर्क की प्रतिकूलता धर्म को नहीं रोक सकती और स्वर्ग की अनुकूलता धर्म में सहायक नहीं हो सकती।

धर्मी-ज्ञानी चाहे जैसी प्रतिकूलताओं में घबराता नहीं है-बेचैन नहीं होता, शंकित नहीं होता; गरीब मजदूर के भी धर्म हो सकता है। स्वभाव को जाननेवाला ज्ञानी निःशंक होता है कि मेरे स्वभाव को कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता।

समस्त संयोगों में एक ही बात ध्यान में रखो कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ नहीं कर सकता। मेरा चैतन्यस्वरूप मुझमें है। चैतन्यस्वभाव को भूलकर पर को अच्छा मानना ही अनन्त पाप है। समझ ही धर्म और अज्ञान ही संसार है। प्रत्येक ज्ञानी या अज्ञानी जीव स्वतन्त्र है। किसी का भी अभिप्राय बदल देने में कोई दूसरा समर्थ नहीं है। रुचि अपने स्वभाव की कर! तेरे अपार स्वभाव के लिए कोई भी परद्रव्य हानि या लाभ पहुँचाने में समर्थ नहीं है।

चैतन्य ज्योति ज्ञानस्वरूप मुक्त ही है। पचास वर्ष पूर्व के राग का ज्ञान करने में ज्ञान में कहीं राग नहीं आ जाता। रागरहित ज्ञान हो सकता है। ज्ञानस्वरूप मुक्त है, उसे ज्ञान करने में कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव बाधक नहीं होता। मुक्तस्वरूप में शंका होना ही संसार है।

भगवान-आत्मा किस प्रकार की है ? ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान में कोई पर बाधक नहीं होता, इसलिए पर के कारण से ज्ञान में रागादि नहीं रहा। केवल स्वाश्रय के ज्ञान को स्थिर रखना ही केवलज्ञान है।

अपने ऐसे स्वभाव में यदि तू शंका करेगा तो तेरे हाथ में वह नहीं आयेगा। मुक्तस्वभाव का जानना ही धर्म है।

अनादिकाल से अपनी ही श्रद्धा नहीं जमती और पर के ऊपर, शरीरादि पर ध्यान रखता है, किन्तु वास्तव में तेरे ज्ञानस्वभाव में कोई भी पर कुछ भी करने के लिये समर्थ नहीं है। पूर्व निमित्त से बाह्य संयोग या अन्तरंग क्षणिक रागादि स्वभाव में नहीं हैं, ज्ञान का उपाय ज्ञान ही है। अनन्त काल में जो नहीं प्राप्त किया, वह सच्चा भान प्राप्त कर लेना ही अपूर्व है, और उसी में अनन्त पुरुषार्थ है।

परद्रव्य से लाभ या हानि नहीं होती, इसका अर्थ यह नहीं है कि तू स्वेच्छाचारी बन जाय। स्वेच्छाचार तो स्वभाव का नाश करनेवाला है। कोई पर का कुछ नहीं कर सकता—इस कथन से दूसरे को मारने-जिलाने या भोगने का भाव ही दूर हो जाना चाहिए। स्वरूप की रुचि, भान और उस प्रकार का परिणमन ही धर्म है, जो इस बात को नहीं समझे और अपनी विपरीत

मान्यता को भी नहीं छोड़े तो आचार्यदेव कहते हैं कि उसके लिये क्या किया जाय? सभी स्वतन्त्र हैं; प्रभु हैं; विपरीत वर्तन में भी सब स्वतन्त्र हैं; ऐसी दशा में प्रभु तू ही अपनी अवस्था को सम्हाल; तू ही अपने तर्कों का समाधान कर तभी होगा। यहाँ तो तेरी स्वतन्त्रता का ढोल पिट रहा है। 'तू प्रभु है!'

शाश्वत सुख तेरे स्वभाव में है। पर में किंचित्मात्र भी सुख नहीं है। आत्मा का स्वरूप कैसा है? स्त्री-बालक, सधन-निर्धन, रागी-द्वेषी, मनुष्य-देव कोई भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। स्वरूप का भान ही उद्धार का मार्ग है। बिना भान के किसी भी प्रकार से उद्धार का मार्ग नहीं निकल सकता।

अनादिकाल से यथार्थ चैतन्यस्वरूप को जाना नहीं है, और वस्तुस्वरूप को समझे बिना कभी हल हो नहीं सकता। इसलिये स्वभाव का भान कर और स्वभाव के बल पर रागादि के विरुद्ध अकेला जुट जा। तेरा कोई भी नुकसान करने में समर्थ नहीं है।

आत्मधर्म की प्रभावना कीजिये

जहाँ पर से बन्ध माना, वहीं आत्मा को पराधीन माना। कोई तीर्थंकर भी तेरी सहायता नहीं कर सकते। केवल निमित्त से ही यह कहा जाता है कि "तिथ्थयरा मे पसीयंतु" किन्तु वास्तव में तीर्थंकर मदद नहीं कर सकते। मात्र विनय से ऐसा कहा जाता है। भला, वीतराग भी किसी को सहायक होते होंगे?

पर से न तो धर्म है और न हानि! फिर व्यर्थ ही पर का अहंकार क्यों करता है? पर से धर्म मानना अज्ञान है। अज्ञानी को उस के भाव की ही हानि है-पर की नहीं। तेरी ही शंका से तुझे हानि है और तेरी ही नि:शंकता से तुझे धर्म है। सच्ची पहिचान के बिना कभी नि:शंकता नहीं हो सकती। उपभोग का भोग कर, ऐसा कहकर यहाँ पर के भोगने को नहीं कहा है किन्तु ज्ञान स्वभाव की दृढ़ता प्राप्त होने पर पर-संयोग आकर छूट जायेंगे; ज्ञानी को किसी पर-संयोग का आदर नहीं है।

जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म का बंध होता है, उस भाव के प्रति भी ज्ञानी की दृष्टि में कोई आदर नहीं है।

यहाँ पर स्वभाव की स्वतंत्रता का वर्णन किया है, कि भाई! तेरे स्वभाव के भान में कोई भी परवस्तु तुझे हानि नहीं पहुँचा सकती। ★

★ ★ ★ ★

पूज्य सद्गुरुदेव के व्याख्यान से

महान् उपकारी भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य

आचार्यपद दिन : पौष कृष्ण अष्टमी

आज भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को 'आचार्य पदवी' मिलने का मांगलिक दिन है। उनके समय में पुण्ययोग से उन्हें साक्षात् तीर्थंकर की वाणी सुनने का प्रसंग प्राप्त हो गया था। वे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्र में गये थे, जहाँ साक्षात् तीर्थंकर श्री सीमंधरस्वामी विराजमान हैं। उनने वहाँ जाकर आठ दिन तक साक्षात् तीर्थंकर की वाणी सुनी थी, और फिर भरतक्षेत्र में वापिस पधारे थे। यह विक्रम की प्रथम शताब्दी की घटना है।

महाविदेह से आकर आचार्यदेव ने जो साक्षात् प्रभु की दिव्यध्वनि में सुना था तथा यहाँ पर गुरु परम्परा से जो ज्ञान प्राप्त किया था, और स्वयं जो अन्तर स्वभाव का अनुभव किया था, उसके बल पर अनुभव की कलम से श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, नियमसार तथा अष्टपाहुड़ आदि ग्रंथों की रचना की थी। इन शास्त्रों से बहुत से भव्य जीवों का उद्धार हुआ है और होगा।

आज-पौष कृष्णा अष्टमी के दिन भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रभु को आचार्य पद अर्थात् शासन रक्षक की पदवी मिलने का मांगलिक दिन है। उनने इस काल के अनुसार आचार्यपद से तीर्थंकर पद जैसा महान् कार्य किया है; अपने अपूर्व अनुभव को समयसारादि शास्त्रों में गूंथ कर शासन का वास्तव में उद्धार किया है। ऐसे महान उपकारी श्री कुन्दकुन्द प्रभु के 'आचार्य पद' का आज मांगलिक दिन है। आज शासन का महान् दिन है।

जिसे स्वभाव का महात्म्य प्राप्त हुआ उसे निमित्त का—देव-गुरु-शास्त्रों का बहुमान हुये बिना नहीं रह सकता। गुरुगम के बिना धर्म नहीं जाना जा सकता, क्योंकि जगत् को सत् वस्तु का अनादिकाल से अपरिचय है, अजानपना है। पहले सत् को समझने के लिये सत् निमित्त चाहिये। उपकार का आरोप तो वर्तमान निमित्त पर ही अवलम्बित है। जिसकी जितनी जैसी योग्यता होती है, उसे वैसा योग्य निमित्त मिल ही जाता है और जब उसे इसका ज्ञान हो जाता है, तब वह निमित्त का उपकार (वीतराग होने तक) गाये बिना नहीं रहता।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने जो वस्तु कही है, उससे महान् उपकार हुआ है। वह गुरुगम के बिना समझ में नहीं आ सकता।

बूझी चहत जो प्यास को,
है बूझन की रीत।
पावे नहिं गुरुगम बिना,
यही अनादि स्थित। (श्रीमद् राजचन्द्र)

अन्तरंग में सत् समझने की जिज्ञासा जागृत हो और सत् का निमित्त नहीं मिले, यह नहीं हो सकता। जब स्वयं सत् को समझे, तब सत् के निमित्त का बहुमान किये बिना रह ही नहीं सकता।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने वस्तु स्वभाव का अचिन्त्य वर्णन अपूर्व रीति से किया है। आत्मवस्तु में कर्म निमित्त का संग लिया जाय तो बंध-मोक्ष अवस्था भेद बनता है, और यदि केवल वस्तु को ही लक्ष में लिया जाय, तो वस्तु तो ज्ञायकस्वभावरूप ही है। आचार्य महाराज ने कहा है—

अप्रमत्त है-न-प्रमत्त है, वह एक 'ज्ञायक' भाव है;
यह रीत 'शुद्ध' कहाय, अरु जो ज्ञात है वह है वही॥६॥

आचार्यदेव ने श्री समयसार शास्त्र की ऊपर कही हुई छठ्ठी गाथा में केवल स्वभाव का वर्णन किया है। उसमें 'ज्ञायक' शब्द का प्रयोग किया है। सामान्य पारिणामिकभाव को ही ज्ञायक कहा है। क्योंकि, उस शास्त्र-भाषा के पारिणामिक शब्द को लोग नहीं समझ सकेंगे; इसलिये आचार्यदेव का सहज शब्द 'ज्ञायक' प्रयुक्त हुआ है। उस ज्ञायकस्वभाव का छठ्ठी गाथा में अपूर्व वर्णन किया गया है। वहाँ से समयसार का प्रारंभ होता है।

धर्मात्मा श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान छठ्ठी-सातवीं भूमिका में-प्रमत्त अप्रमत्तदशा में झूलते थे। उस अवस्था में आन्तरिक नकार उद्घोषित हुआ कि यह प्रमत्त-अप्रमत्त का भेद कैसा? आचार्यदेव स्वयं जिस भूमिका में झूल रहे थे, वहीं से उसका (अप्रमत्त-प्रमत्त के भेद का) इंकार करके, कि मैं तो त्रिकाल एकरूप ज्ञायक हूँ (इस बल पर वर्तमान स्थिति का भी इंकार करके) उनने छठ्ठी गाथा में मात्र ज्ञायक स्वभाव का ही अचिन्त्य वर्णन किया है।

अहो! आचार्यदेव ने समयसार में वस्तु का ऐसा अलौकिक वर्णन किया है कि ४१५ गाथाओं में तो जिनेन्द्र भगवान की साक्षात् ध्वनि ही उतार दी है। जिसने इस प्रकार वस्तु स्वभाव को जाना है, उसके भव का अंत हुये बिना रह ही नहीं सकता।

जिसकी दृष्टि वस्तु स्वभाव पर है, उसके बंधन नहीं है। मोक्ष अवस्था भी पर्याय है। यह

विकल्प भी वस्तु दृष्टि में नहीं रहता कि 'मेरी पूर्ण निर्मल पर्याय कब प्रगट होगी।' किन्तु वस्तु दृष्टि के बल से निर्मल पर्याय अल्पकाल में सहज ही प्रगट हो जाती है। द्रव्यदृष्टि से वस्तु स्वभाव अपरिणामी है। पर्यायदृष्टि से पर के लक्ष से जो शुभाशुभभाव होते हैं, उनसे स्वभाव उसरूप नहीं हो जाता।

वस्तु का परिणामिकस्वभाव है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने उसे ज्ञायक रूप में वर्णन किया है। जो ऐसे वस्तु स्वरूप को जानता है, वह ज्ञानी अपने स्वभाव में रागादि को नहीं खतियाता, और इसलिये उसे बंधन नहीं होता। उसकी अल्पकाल में ही मुक्ति निश्चित है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने महाविदेहक्षेत्र में जाकर, साक्षात् तीर्थंकर प्रभु की दिव्यध्वनि सुनकर, वह वाणी शास्त्र द्वारा भरतक्षेत्र को देकर इस क्षेत्र के अनेक भव्य जीवों का उपकार—महान् उपकार किया है। ऐसे परम उपकारी, शासनोद्धारक श्री कुन्दकुन्द भगवान को नमस्कार हो।

★ ★ ★ ★

सभा में अध्यात्मोपदेश : २

भगवान योगीन्द्रदेव क्या कहते हैं ?

जो सभा में निश्चय मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, वे 'उपाध्याय' परमेष्ठी हैं। परमात्मप्रकाश की ७ वीं गाथा की टीका में यह व्याख्या की गई है। वह टीका निम्न प्रकार है—

पंचास्तिकायषट्द्रव्यसाततत्वनवपदार्थेषु मध्ये शुद्धजीवास्तिकायशुद्धजीवद्रव्यशुद्धजीवतत्व-शुद्धजीवपदार्थसंज्ञं स्वशुद्धात्मभावमुदोदयं तस्माच्चान्यद्हेयं कथयन्ति, शुद्धात्मस्वभावसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुचरण रूपाभेद रत्नत्रयात्मकं निश्चय मोक्षमार्गं च ये कथयन्ति ते भवन्त्युपाध्यायास्तानहं वन्दे।

अर्थ—पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सप्त तत्व, नव पदार्थ हैं, उनमें निज शुद्ध जीवास्तिकाय, निज शुद्ध द्रव्य निज शुद्ध जीव तत्व, निज शुद्ध जीव पदार्थ, जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, अन्य सब त्यागने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं; तथा शुद्धात्म-स्वभाव का सम्यक श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेद रत्नत्रय है, वही निश्चय मोक्षमार्ग है, ऐसा उपदेश शिष्यों को देते हैं, ऐसे उपाध्यायों को मैं नमस्कार करता हूँ।

पंडित जयचंद्रजी कहते हैं कि,

आत्मसेवन करने का उपदेश देना चाहिये।

इस संबंध में श्री समयसार में इस प्रकार कहा है — ''दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों आत्मा की पर्यायें हैं, कोई जुदी वस्तु नहीं है; इसलिये साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना चाहिये, यह निश्चय है। और व्यवहार से [अर्थात् जब स्वरूप में स्थिर नहीं रहा जा सके तब] अन्य को भी यही उपदेश देना चाहिये।''

इससे यह सिद्ध होता है कि साधु पुरुषों को केवल आत्मा का ही सेवन करने का उपदेश देना चाहिये, मुमुक्षुओं को निरंतर समयसार सुनाना चाहिये, और निरंतर उसका अभ्यास करना चाहिये।

श्री समयसार अध्यात्म ग्रंथ है। पं. जयचन्द्रजी ने उसकी हिन्दी में भाषा वचनिका सं. १८६४ में की थी; उस वचनिका को समाप्त करते हुये उनने निम्न प्रकार लिखा है—

''इस न्याय से आत्मख्याति नामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्य कृत ही है, इसलिये इसे पढ़ने और सुननेवालों को उनका उपकार मानना उचित ही है; क्योंकि उसे पढ़ने-सुनने से पारमार्थिक आत्मा का स्वरूप जाना जाता है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, और मिथ्याज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण दूर होता है। और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुमुक्षुओं को निरंतर इस का अभ्यास करना चाहिये।''

अल्पबुद्धि के लिये समयसार है—

टीका समाप्त करते हुये पं. जयचन्द्रजी ने अंतिम मंगल कवित्त में तीसरे पद में कहा है—

देश की वचनिका में लिखी जयचन्द्र पढ़े संक्षेप अर्थ,
अल्प बुद्धि को पावनो;

अर्थ—अल्प बुद्धि जीवों को समझने के देशभाषा में संक्षेप में अर्थ लिखा है।

सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टियों की सभा में श्री समयसार समझाता है, जिससे मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं—

''श्री समयसार में प्रथम ३८ गाथायें [जीवाजीवाधिकार में] पूर्व रंगरूप है; उन्हें समाप्त करते हुये पं. जयचन्द्रजी कहते हैं कि—यहाँ प्रथम रंगभूमि स्थल कहा गया है, वहाँ दर्शक तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं, तथा दूसरे मिथ्यादृष्टियों की सभा है। उन्हें बतलाते हैं। नृत्य करने वाले जीवाजीव पदार्थ हैं, और उन दोनों की एकता, कर्ताकर्मपन आदि उनकी स्वांग है। उस में वे

परस्पर अनेक रूप होते हैं। आठ रसरूप होकर परिणमित होते हैं, वह नृत्य है। वहाँ देखनेवाला सम्यग्दृष्टि, जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है। वह इस समस्त स्वांग को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है। और मिथ्यादृष्टि, जीव-अजीव का भेद नहीं जानते, इसलिये वे इन स्वांगों को ही सत्य मानकर उन में लीन हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि उन्हें यथार्थ स्वरूप बनाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शान्तरस में लीन करके सम्यग्दृष्टि बनाते हैं।''

उपरोक्त अवतरण सिद्ध करता है कि सभा में सम्यग्दृष्टि जीव, मिथ्यादृष्टियों को अध्यात्म का स्वरूप समझाते हैं, और वे यथार्थ समझते भी हैं, इसलिये समयसार शास्त्र है, उसे सभी पढ़े, इसलिये हिन्दी टीका लिखी गई है।

पं. जयचन्द्रजी ने विचार किया था कि समयसार की हिन्दी वचनिका की जाय या नहीं; उसके बाद वे लिखते हैं कि—''इस अध्यात्म ग्रंथ को सभी पढ़ें।'' इसलिये उनने भाषा वचनिका बनाई थी। उनने इस विषयक शंका समाधान इस प्रकार किया है—

शंका—यह समयसार अध्यात्म ग्रंथ है। यदि इसे देशभाषा में लिखोगे तो लोग भ्रष्ट हो जायेंगे, स्वच्छंदी हो जायेंगे, प्रमादी हो जायेंगे, विपरीत श्रद्धानी हो जायेंगे; इसलिये जो मुनि हैं, दृढ़ चारित्र के पालनेवाले हैं, और जिनका ऐसा विश्वास हो गया हो कि व्यवहार मात्र से मुक्ति हो जायेगी उन्हीं को शुद्धात्मा के सन्मुख करने के लिये यह शास्त्र सुनाना चाहिये। इसलिये सर्व साधारण के लिये देश भाषा में वचनिका करना योग्य नहीं है।

समाधान—इस शास्त्र में मुख्यतया शुद्धनय का कथन है, और गौणता से व्यवहारनय का भी कथन है। उसे आचार्य महाराज ने जिस प्रकार समझाया है, उसी प्रकार समझने से विपरीत श्रद्धान नहीं हो सकता। किन्तु जो बिगड़नेवाले हैं, वे शुद्धनय की बातें सुनें या अशुद्धनय की, वे तो विपरीत ही समझेंगे, उनके लिये सर्व उपदेश निष्फल हैं।

देशभाषा के चार प्रयोजन

इस शंका का समाधान करके इस ग्रंथ को देशभाषा में लिखने के चार प्रयोजन बताये हैं, उनका सार निम्न प्रकार है—

[१] जैनी कर्मवादी नहीं हैं

अन्य दर्शनवादी मानते हैं कि जैन लोग कर्मवादी हैं; उनके यहाँ आत्मा का कथन नहीं है; और आत्मा को जाने बिना मोक्ष हो नहीं सकता। इसलिये यदि यह अपनी कथनी प्रगट नहीं की जायेगी तो भोले प्राणी अन्य दर्शनवालों की उक्त बात सुनकर भ्रम में पड़ जायेंगे। और इस (समयसार के) कथन के प्रगट हो जाने से कोई श्रद्धा से नहीं हट सकेगा।

[२] भ्रम दूर होगा

इस ग्रंथ की वचनिका पहले [पं. राजमलजी कृत समयसार कलश-टीका हिन्दी] भी हुई है, तदनुसार पं. बनारसीदासजी ने कलश के कवित्त बनाये हैं, जो जैन तथा अन्य दर्शनावलम्बियों में प्रसिद्ध हुये हैं। लोग उन का सामान्य अर्थ समझते हैं; यदि उनका स्पष्ट अर्थ नहीं समझेंगे तो पक्षपात होने का भय है। इसलिये इस वचनिका में नय विभाग का अर्थ स्पष्ट किया गया है, जिससे भ्रम दूर हो जाय।

[३] सभी पढ़ें-समझें

काल दोष से बुद्धि की मंदता के कारण प्राकृत, संस्कृत के पढ़नेवाले कम हैं, और स्व-पर मत का भेद समझ कर यथार्थ तत्त्व के समझनेवाले थोड़े हैं; जैन ग्रंथों की गुरु आम्नाय कम हो रही है, स्याद्वाद के मर्म को कहनेवाले गुरुओं की व्युच्छित्ति हो रही है; इसलिये यदि समयसार की वचनिका विशेष अर्थरूप हो जाय तो उसे सभी लोग पढ़ें और समझें और यदि कोई भ्रम हो तो उसे दूर करें। यदि इस शास्त्र का यथार्थ ज्ञान हो जाय तो अर्थ में विपर्यास नहीं हो सकेगा।

[४] उपदेश सुनकर बंध का अभाव करे

श्री समयसार में शुद्धनय का विषय जो शुद्धात्मा है, उसके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार से नियम से कहा है। लोक में यह कथन बहुधा प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये वह व्यवहार को ही जानता है। यदि शुभ का ही प्रश्न पकड़ा जाय तो वह शुभ से ही मोक्षमार्ग को माने, और इससे तो मिथ्यात्व ही दृढ़ हुआ। व्यवहार शुभाशुभरूप है, और वह बंध का कारण है। उसमें आत्मा अनादि काल से प्रवृत्ति कर रहा है; वह कभी शुद्धनयरूप नहीं हुआ है। इसलिये उसका उपदेश सुनकर उसमें यदि लीन हो तो व्यवहार का अवलम्बन छोड़े और तब वह बंध का अभाव कर सकेगा।

उक्त कथन का सार

उक्त कथन बराबर ध्यान में रखना चाहिये। इसका सार यह है :—

(१) सर्व साधारण लोग मन्दबुद्धि हैं, इसलिये यदि अपनी भाषा में शास्त्र हों तो उन्हें सब पढ़-समझ सकते हैं।

(२) यदि जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप समझ लिया जाय तो अन्य मतावलम्बियों की बातें सुनकर भ्रम नहीं होगा।

(३) बिलकुल स्पष्ट अर्थ समझे।

(४) यह उपदेश सुनकर उस में लीन हो जाय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके बंध का अभाव किया जा सकेगा।

इन चार हेतुओं को लक्ष में रखकर पं. जयचन्द्रजी ने इस शास्त्र की रचना की है।

श्री जयसेनाचार्य ने इसी विषय में निम्नाशय के प्रश्नोत्तर रूप में कहा है—

प्रश्न—इस प्राभृत शास्त्र (समयसार) को जानकर क्या करना?

उत्तर—सहज शुद्ध ज्ञानानंदस्वभाव, निर्विकल्प, उदासीन, नित्य, निरंजन शुद्धात्म सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से प्रगटित वीतराग सहजानंदरूप सुख की अनुभूति मात्र मेरा लक्षण है; मैं स्वसंवेदनवेद्य हूँ; प्राप्त करने योग्य हूँ, स्व अवस्था से परिपूर्ण हूँ। मैं मिथ्याशल्य, राग, द्वेष, क्रोधादि समस्त विभाव परिणामों से रहित हूँ, इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय द्वारा तीनों लोक और त्रिकाल में कृत, कारित एवं अनुमत हैं, यों सर्व जीवों को निरंतर भावना करनी चाहिये।

इसी में पृष्ठ ३० पर यह भी कहा है कि—प्रथम १२ गाथाओं को सुनकर आसन्न भव्य जीव हेयोपादेय तत्त्व को जानकर विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावमय अपने स्वरूप की भावना करता है। जो जीव विस्तारपूर्वक वर्णन करने पर समझ सकते हैं, वे समयसार के नौ अधिकारों का मनन करके अपने विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावमय आत्मस्वरूप की भावना करते हैं।

★ ★ ★ ★

आत्मा का हित एक मोक्ष ही है

आत्मा की नाना प्रकार की गुण-पर्यायरूप अवस्था होती हैं; उस में अन्य चाहे जो अवस्था हो, उससे आत्मा का कोई भला-बुरा नहीं होता, किन्तु एक दुःख-सुख अवस्था से उस का बिगाड़-सुधार होता है। यहाँ किसी हेतु दृष्टांतादि की आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्ष में ऐसा ही प्रतिभासित होता है। लोक में जितनी आत्मा हैं, उनके एक ही उपाय दिखाई देता है कि दुःख न हो-सुख ही हो। वे जितने भी अन्य उपाय करते हैं, वह केवल एक इसी प्रयोजन के लिये करते हैं; दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। वे जिसके निमित्त से दुःख होता जानते हैं, उसके दूर करने का उपाय करते हैं, तथा जिसके निमित्त से सुख होता जानते हैं, उसे रखने का प्रयत्न करते हैं।

आत्मा की संकोच-विस्तारादि अवस्था भी होती है। अनेक परद्रव्यों का भी संयोग मिलता है, किन्तु वह जिससे सुख-दुःख होता नहीं जानता, उसे रखने या दूर करने का कोई भी उपाय नहीं करता। यहाँ आत्मद्रव्य का ऐसा ही स्वभाव जानना चाहिये। वह अन्य सभी अवस्थाओं को सह सकता है, किन्तु केवल एक दुःख को ही नहीं सह सकता। परवशता से दुःख हो तो वह क्या करे? उसे भोगना चाहिये, किन्तु अपने वश तो वह किंचित्मात्र भी दुःख को सहन नहीं कर सकता। तथा संकोच-विस्तार आदि अवस्था चाहे जैसी हो, उसे अपने वश भी भोगता है। वहाँ स्वभाव में कोई तर्क नहीं है। यों समझना चाहिये कि आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। देखिये। जब यह जीव दुःखी होता है, तब सोना चाहता है। यद्यपि सोने से ज्ञानादिक मन्द हो जाता है, किन्तु जड़वत बनकर भी दुःख को दूर करना चाहता है, अथवा मर जाना चाहता है। वह मरने में अपना नाश मानता है, फिर भी अपना अस्तित्व मिटाकर भी दुःख दूर करना चाहता है। इसलिये एक दुःखरूप पर्याय का अभाव कर देना ही उसका कर्तव्य है।

दुःख का न होना ही सुख है; क्योंकि आकुलता लक्षणयुक्त दुःख है और उसका अभाव होना, सो वही निराकुलता लक्षणयुक्त सुख है। और फिर यह भी प्रत्यक्ष मालूम होता है कि किसी भी बाह्य सामग्री का संयोग मिलने पर, जिसके अन्तरंग में आकुलता होती है, वही दुःखी है और जिसके आकुलता नहीं है, वह सुखी है। और फिर जो आकुलता होती है, वह रागादिक कषायभाव के होने पर होती है; क्योंकि रागादि भाव के द्वारा यह जीव सर्व द्रव्यों के अन्य प्रकार से परिणत करना चाहता है तथा वे द्रव्य अन्य प्रकार से परिणमित होते हैं, तब उसे आकुलता होती है। इसलिये या तो अपने रागादिभाव दूर होना चाहिये, अथवा अपनी इच्छानुसार ही सर्व द्रव्य परिणमन करें तो आकुलता मिट जाय।

अब बात यह है कि सर्व द्रव्य तो इसके आधीन है नहीं। फिर कभी कोई द्रव्य उसी प्रकार परिणमन करें, जैसी उसकी इच्छा हो तो भी उसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं होती। यदि सभी कार्य उसकी इच्छानुसार ही हों, अन्यथा न हों, तभी वह निराकुल रह सकता है; किन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन किसी दूसरे द्रव्य के आधीन नहीं है। किन्तु अपने रागादि भाव दूर होने पर निराकुलता होती है, और यह कार्य बन भी सकता है-यह स्वाधीन बात है। क्योंकि रागादि भाव, आत्मा के स्वाभाविक भाव तो हैं नहीं, किन्तु औपाधिक भाव हैं, जो कि पर निमित्त से होते हैं, और वह निमित्त है मोहोदय। उसका अभाव होने पर सर्व

रागादिभाव नष्ट हो जाते हैं, और तब आकुलता का भी नाश हो जाता है, जिससे दुःख दूर होकर सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये मोहकर्म का नाश करना ही हितकारी है।

दूसरी बात यह है कि उस आकुलता का सहकारी कारण ज्ञानावरणादि का उदय है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के उदय से ज्ञान-दर्शन सम्पूर्ण प्रगट नहीं हो पाते, इसलिये इसे देखने-जानने की आकुलता होती है। अथवा जब वस्तु के यथार्थ सम्पूर्ण स्वभाव को नहीं जान पाता, तब रागादिरूप होकर प्रवृत्ति करता है, और तब वहाँ आकुलता होती है।

और जब अन्तरायकर्म के उदय से इच्छानुसार दानादि कार्य नहीं बन पाते, तब भी आकुलता होती है। मोहोदय होने पर इस का उदय आकुलता के लिये सहकारी कारण बन जाता है। किन्तु मोहोदय का नाश होने पर वह निर्बल हो जाता है, अन्तर्मुहूर्त में ही वह स्वयमेव नष्ट हो जाता है। और फिर सहकारी कारण के नष्ट होने पर प्रगटरूप निराकुल दशा प्रतिभासित होती है, तब वह केवलज्ञानी आप्त भगवान की अनन्त सुखरूप दशा कहलाती है। अघाति कर्मों के उदय के निमित्त से शरीरादि का संयोग होता है। मोहकर्म का उदय होने पर शरीरादि का संयोग आकुलता के लिये बाह्य सहकारी कारण हो जाता है। अन्तरंग मोह के उदय से रागादि होता है और बाह्य अघाति कर्म के उदय से रागादि के कारणभूत शरीरादि का संयोग होता है, तब आकुलता उत्पन्न होती है। मोहोदय का नाश हो जाने पर भी अघाति कर्मों का उदय रहता है, किन्तु वह आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकता। किन्तु वह पहले आकुलता के लिये सहकारी कारण था; इसलिये अघाति कर्मों का नाश भी आत्मा के लिये इष्ट ही है-अघाति कर्मों का भी नाश होना ही चाहिये।

यद्यपि केवली भगवान (अरहन्त) के अघातिकर्मों के होते हुये भी कोई दुःख नहीं है, और इसीलिये उनके नाश का कोई प्रयत्न भी नहीं करते; फिर भी मोह का नाश हो जाने पर यह कर्म भी स्वयमेव अल्पकाल में ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सर्व कर्मों का नाश हो जाना ही आत्मा के लिये इष्ट है, और सर्व कर्मों के नाश हो जाने का ही नाम है मोक्ष। इसलिये आत्मा का हित एक मोक्ष ही है, दूसरा कोई नहीं है—ऐसा निश्चय समझना चाहिये।